अध्याय 3

औपनिवेशिक शासन का प्रतिरोध

(Resistance to Colonial Rule)

1857 के विद्रोह के कारण, प्रकृति तथा प्रभाव

जब 29 मार्च, 1857 को 34वीं नैटिव इंफैंट्री के सिपाही मंगल पांडे ने बैरकपुर (बंगाल) में अपने सार्जेंट मेजर पर गोली चलायी तब उसने नहीं सोचा होगा कि वह एक इतिहास रचने जा रहा है। उसे तो मौत दे दी गयी और उसके रेजीमेंट को भी भंग कर दिया गया, लेकिन कुछ ही हफ्तों बाद 10 मई को मेरठ छावनी के सिपाहियों ने अपने अधिकारियों की हत्या कर दी और दिल्ली की ओर चल पड़े। 1857 का विद्रोह शुरू हो चुका था।

लम्बे समय तक औपनिवेशिक इतिहासकार इसे सिपाही विद्रोह की संज्ञा देते रहे। सबसे पहले अर्ल स्टैनले ने इसका प्रयोग किया था। फिर टी.आर . होम्स, जी.डब्ल्यू. फॉरेस्ट एवं एम. इन्स आदि इतिहासकारों ने इस शब्दावली का प्रयोग किया। सर जॉन लॉरेंस का मानना था कि विद्रोह की जड़ सेना में थी, विशेषकर कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी मिलाये जाने की खबर में। टी.आर .होम्स ने इसे सभ्यता एवं बर्बरता के बीच संघर्ष की संज्ञा दी। सर जेम्स आउट्रम एवं डब्ल्यू. टेलर ने इसे हिन्दू-मुस्लिम षड्यंत्र, विशेषकर मुस्लिम षड्यंत्र का परिणाम कहा, जबकि कंजर्वेटिव पार्टी के एक बड़े नेता बेंजमिन डिजराइली ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह का दर्जा दिया।

पहले भारतीय जिन्होंने इस विद्रोह पर पुस्तक लिखी, वे थे सर सैय्यद अहमद खान। अपनी पुस्तक अस्बाब-ए-बगावत-ए-हिंद (उर्दू) में उन्होंने विद्रोह के कारण को समझने की कोशिश की और दुख के साथ लिखा कि इतने वर्षों के शासन के बाद भी अंग्रेज भारतीयों का दिल जीतने में विफल रहे। उन्होंने जनता और सरकार के बीच किसी संवाद की अनुपस्थिति को विद्रोह का एक बड़ा कारण माना।

वी.डी. सावरकर जो क्रांतिकारी थे और हिंदुत्व के जनक भी, इसे भारत का प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम मानते हैं। उन्होंने यह बात अपनी पुस्तक 'वार ऑफ इंडियन इंडिपेंडेंस' में लिखी। दिलचस्प बात यह है कि आर.सी. मजूमदार इसे न तो प्रथम और न राष्ट्रीय और न ही स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा देने को तैयार थे।

औपनिवेशिक एवं राष्ट्रवादी दोनों ही विचार के इतिहासकारों ने ऐतिहासिक दस्तावेजों का सहारा कम और पूर्वाग्रह से ग्रस्त विचारों का सहारा अधिक लिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्रोह की शुरुआत

'सैनिक विद्रोह' के रूप में हुई थी, लेकिन यह केवल सेना तक ही सीमित नहीं थी। जल्द ही यह विद्रोह समाज के अनेक भागों में फैल गया, लेकिन इसे राष्ट्रीय संग्राम की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि राष्ट्रवाद की भावना अभी भ्रूणावस्था में ही थी।

ऐतिहासिक दस्तावेजों, पुलिस रिकॉर्डों, समकालिक साहित्यों विशेषकर दिल्ली, लखनऊ एवं पटना के उर्दू साहित्य का सावधानी से अध्ययन करने के बाद इस विद्रोह के वास्तविक स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है। किसी अन्य साहित्य ने 1857 के विद्रोह का दर्द उतना महसूस नहीं किया, जितना उर्दू साहित्य ने किया, क्योंकि यह हर खास-ओ-आम की भाषा थी, विशेषकर उत्तरी भारत में, जो विद्रोह का केंद्र बिंदु था। मिर्जा गालिब की शायरी और उनके द्वारा लिखे गये खतों में विद्रोह के दौरान लोगों की पीड़ा को महसूस किया जा सकता है।

सैनिक कारण

विद्रोह की शुरुआत कारतूस में चर्बी मिलाये जाने की घटना को लेकर हुई। नये एनफील्ड रायफल्स के कारतूस के ऊपरी भाग को मुंह से काटकर बंदूक में भरना होता था, जो संभवत: गाय एवं सूअर की चर्बी से बना होता था। कंपनी की सेना में अधिकांशत: हिंदू या मुस्लिम थे, विशेषकर उच्च जाति के हिंदू जो गाय को पवित्र मानते हैं, जबकि मुसलमानों के लिए सूअर हराम (प्रतिबंधित) माना जाता है। सेना में असंतोष के और भी कारण थे। धार्मिक कारणों से पहले भी कई सैनिक विद्रोह कर चुके थे। 1852 में 38वीं नैटिव इंफैंट्री के सिपाहियों ने बर्मा जाने से इंकार कर दिया था, क्योंकि समुद्र पार करना उच्च जाति के लिए अपनी जाति को खो देना था। वापस आने पर उनका सामाजिक बहिष्कार होता। सेना में अंसतोष का एक बड़ा कारण वेतन में भेदभाव भी था। सबसे अधिक वेतनभोगी सिपाही सूबेदार होता, जिसका वेतन एक नये अंग्रेज सिपाही से कम होता था। एक पैदल सैनिक को 7 रुपये एवं सवार को 27 रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता था। पदोन्नति के द्वार लगभग बंद थे। एक भारतीय सिपाही रिसालदार के पद पर नियुक्त होता और इसी पर सेवानिवृत्त भी हो जाता।

उनका लगातार अपमान किया जाता। उन्हें सूअर या निग्गर (काले) कहकर संबोधित किया जाता। सैनिक छावनी में ईसाई मिशनरियों की उपस्थिति उनमें असंतोष पैदा करती। यह मिशनरी अन्य धर्मों का मजाक उड़ाते और भारतीय सैनिक समझ जाते कि उनमें धर्म परिवर्तन का प्रयास हो रहा है। बड़ी संख्या में सिपाही उच्च जाति के थे। जब आटे में हड्डी का चूरा मिलाये जाने और कारतूस में चर्बी मिलाये जाने की खबर फैली तो सिपाहियों को समझते देर न लगी कि उनके धर्म और जाति पर प्रहार करने में कंपनी भी इस षड्यंत्र में शामिल है।

राजनैतिक कारण

1857 के विद्रोह के कारणों में सैनिक कारण की चर्चा इतनी अधिक हुई कि अन्य मूल कारण हाशिए पर चले गये। इस विद्रोह के पीछे राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक कारण भी थे। जब सैनिकों ने विद्रोह शुरू किया तो समाज के अनेक वर्गों, सम्प्रदायों का असंतोष भी भड़क गया और इस प्रकार यह एक विस्फोटक विद्रोह बन गया।

इस विद्रोह का एक बड़ा कारण लॉर्ड डलहौजी की 'व्यपगत की नीति' थी। इसके अंतर्गत सतारा (1848), जैतपुर, सम्भलपुर (1849), बघाट (1850), ऊदयपुर (1852), झांसी (1853) एवं नागपुर (1854) का अंग्रेजी साम्राज्य में विलय किया गया। इन राज्यों के दत्तक पुत्रों को मान्यता प्रदान नहीं की गयी, जो शताब्दियों की भारतीय परम्परा पर आघात था। इन राज्यों के सिपाहियों और आम जनता में इस विलय के कारण गहरा अंसतोष था।

सबसे विवादास्पद विलय तो अवध का रहा (1856)। इसके नवाब वाजिद अली शाह पर कुशासन का आरोप लगा, जबकि अवध के नवाब कंपनी के सबसे वफादार नवाबों में गिने जाते थे। जिस कुशासन

की बात कंपनी कर रही थी, उसके लिए भी वह स्वयं जिम्मेदार थी। कुशासन तो एक बहाना था, प्रशासन था ही कहां? अवध के विलय का 1857 के विद्रोह से सीधा संबंध था। कंपनी के सिपाहियों की बड़ी संख्या अवध की थी, जिनकी सहानुभूति अवध के नवाब के प्रति थी। विलय का प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति पर भी पड़ने वाला था, क्योंकि अवध में नयी भू-राजस्व नीति लागू की जानी थी, जिससे कर बढ़ता और इन सिपाहियों के परिवार वालों को अधिक कर देना पड़ता। अवध के बड़े-बड़े तालुकेदार (भू-पति) भी कंपनी के विरोधी हो गये, क्योंकि उनकी संपत्ति कंपनी की सरकार ने जब्त कर ली। कंपनी ने अंतिम पेशवा बाजी राव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहिब की पेंशन भी रोक दी, जिसके कारण उन्होंने भी विद्रोह का बिगुल बजा दिया।

भारतीय राज्यों के विलय का एक सीधा प्रभाव यह पड़ा कि उनके प्रशासनिक पदों से भारतीयों की छुट्टी हो गयी। इसका सबसे बुरा प्रभाव मुसलमानों के 'अशरफ' (संभ्रांत) कहे जाने वाले वर्ग पर पड़ा जो फारसी-उर्दू के अच्छे जानकार थे और राजस्व एवं न्याय विभाग के अधिकांश पदों पर तैनात थे। एक वह भी काल था जब उत्तर भारत में यह मुहावरा प्रचलित था— *'हाथ कंगन को आरसी क्या और पढ़े-लिखे को फारसी क्या'*, लेकिन 1835 में अंग्रेजी भाषा के सरकारी भाषा बन जाने से परिस्थिति बदल गयी और तब तो मुहावरा ही बदल गया— *'पढ़ो फारसी बेचो तेल'*। जब विद्रोह शुरू हुआ तो इस 'अशरफ वर्ग' ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया ताकि शायद वे अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और नौकरी वापस प्राप्त कर पायें।

ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार की भू-राजस्व नीति के साथ-साथ औद्योगिक नीति भी इस विद्रोह के लिए उत्तरदायी रही। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के प्रारंभ से ही अंग्रेजी निर्मित माल को भारत में जबरदस्ती बढ़ावा दिया गया और भारतीय निर्मित माल को न केवल इंग्लैंड में बल्कि भारत में भी हतोत्साहित किया गया। मशीन से निर्मित सस्ते दाम में उपलब्ध अंग्रेजी वस्तुओं, असमान आयात शुल्क और भारतीय निर्माताओं को महंगे दाम में उपलब्ध कच्चा माल भारतीय उद्योगों को तबाह करने के लिए काफी था। फिर जब रियासतों का विलय तेजी से बढ़ा तो इन निर्मित वस्तुओं के सबसे बड़े खरीददार भी जाते रहे। नया शासक वर्ग अंग्रेज था और उसकी रुचि भिन्न थी। उद्योगों के पतन से बेरोजगारी बढ़ी। इनमें से अनेक लोग विद्रोह में शामिल हुए।

सामाजिक-धार्मिक कारण

कंपनी की सरकार ने कुछ सुधारवादी कानून पारित किये थे, जैसे—1829 का सती विरोधी कानून, 1850 का धार्मिक अयोग्यता अधिनियम, 1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम आदि। रूढ़िवादियों ने इसे हिंदुओं के आंतरिक मामले में 'ईसाई सरकार का हस्तक्षेप' और षड्यंत्र माना, विशेषकर 1850 के अधिनियम को जिसके अंतर्गत यह प्रावधान रखा गया कि धर्म परिवर्तन के बाद भी व्यक्ति को अपने परिवार की संपत्ति में हिस्सा मिल सकेगा, जो हिंदुओं की सामाजिक परंपरा के विरुद्ध था। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कंपनी की सरकार *'समानता के अधिकार'* पर अमल कर रही थी, बल्कि इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य ही धर्म परिवर्तन को बढ़ावा देना था। उनकी यह सोच थी कि भारत में हिंदुओं और मुसलमानों की तुलना में एक ईसाई, अंग्रेजी शासन और उत्पाद को अधिक पसंद करेगा।

मुस्लिम रूढ़िवादी वर्ग भी अंग्रेजों से कम नाराज नहीं था। वहाबियों ने तो पहले ही अंग्रेजों, ईसाइयों और पश्चिमी संस्कृति के विरुद्ध मोर्चा खोल रखा था। 1849 के पंजाब विलय के बाद उनका संघर्ष और तेज हो गया। उन्होंने भारत को दारुल-हर्ब (काफिरों की भूमि) से दारुल इस्लाम (शांति की भूमि) बनाने की ठान ली थी। जब विद्रोह (1857) शुरू हुआ तो इन वहाबियों ने विशेषकर पटना के सादिकपुर के वहाबियों ने, बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। वे अधिक संगठित थे और उनके पास हथियार भी थे। उन्होंने अपने संघर्ष को 'जिहाद' भी घोषित कर रखा था, जिससे धार्मिक जुनून और अधिक तेज हो गया। वैसे भी इस्लामी और ईसाई दुनिया का संघर्ष नया नहीं था।

विद्रोह

10 मई, 1857 को मेरठ के सिपाहियों ने अपने अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दिल्ली की ओर कूच किया। यमुना पार कर उन्होंने चुंगीगृह को आग लगा दी और लाल किले के दक्षिणी द्वार पर दस्तक दी। अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर असमंजस में था कि उसकी पत्नी जीनत महल ने अपने रसोइये की मदद से द्वार खोल दिया। सिपाहियों ने बहादुरशाह को 'शहंशाह-ए-हिंद' घोषित किया, जो अब तक केवल लाल किले का शहंशाह था। पीछे यमुना और आगे चांदनी चौक से भी उसका शासन समाप्त हो चुका था। फिर सिपाहियों ने दरियागंज पर धावा बोला, जहां बड़ी संख्या में अंग्रेज रह रहे थे। जल्द ही दिल्ली जंग का मैदान बन गयी। हजारों की संख्या में लोग मारे गये, पहले अंग्रेज फिर भारतीय। कश्मीरी गेट ने खून की होली देखी। मिर्जा मुगल, जो मुगलों की सेना का नेतृत्व कर रहे थे, असफल सिद्ध हुए, फिर बरौली के हवलदार मुहम्मद बख्तावर खान ने मोर्चा संभाला। लेकिन दिल्ली नगर को उजड़ने से नहीं रोक पाये। अपराधियों की चांदी हो गयी। ऐसे माहौल में यह पहचानना कठिन हो गया कि 'सत्य' किधर है। उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध शायर मिर्जा गालिब ने एक इंसान की दृष्टि से इस त्रासदी को देखा। पुरानी दिल्ली के इस बूढ़े शायर ने अपने एक मित्र को खत में लिखा— *'हाय! अब की बार इतने यार मरे कि अब जो मैं मरूंगा तो कोई रोने वाला न होगा।'*

एक बार जब विद्रोह शुरू हो गया तो देश के अन्य भागों में भी यह फैल गया। अवध का क्षेत्र सबसे अधिक प्रभावित रहा, क्योंकि सबसे अधिक सिपाही भी यहीं के थे। लखनऊ, कानपुर, बरेली, इलाहाबाद, बनारस, फैजाबाद, झांसी, जगदीशपुर, दानापुर और पटना विद्रोह की आग में लिपट गये। लखनऊ में यह विद्रोह अवध की बेगम हजरत महल के नेतृत्व में 4 जून को शुरू हुआ, जिन्होंने अपने पुत्र बिरजिस कदर को अवध का नवाब घोषित कर दिया। ब्रिटिश रेजीडेंट हेनरी लॉरेंस की हत्या कर दी गयी। हेवलॉक और आउट्रम भी स्थिति को नियंत्रित करने में विफल रहे। सर कॉलिन कैम्पबेल को बुलाया गया, जिन्होंने गोरखा रेजिमेंट की मदद से यूरोपीय लोगों की जान बचायी।

कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व नाना साहेब ने किया, जिनकी सहायता तांत्या टोपे ने की। छावनी के कमांडर सर ह्यू व्हीलर ने 27 जून को समर्पण कर दिया। कुछ यूरोपीय, जिनमें बच्चे भी शामिल थे, मारे गये। बाद में दिसंबर के महीने में सर कैम्पबेल ने कानपुर को जीता। तांत्या टोपे बच निकले और रानी लक्ष्मीबाई से जा मिले।

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने डलहौजी की नीति को बदलने का भरसक प्रयत्न किया और समझौते की हर संभावित कोशिश की, अंततः उन्हें भी विद्रोह करना पड़ा। सिपाहियों ने गंगाधर राव की इस विधवा को झांसी की शासिका घोषित कर दिया। तांत्या टोपे भी उनसे आ मिले। जब सर ह्यू रोज ने अप्रैल 1858 में झांसी पर अधिकार कर लिया तो रानी और तांत्या टोपे ग्वालियर चले गये। जहां के सिपाहियों ने तो उनका स्वागत किया, लेकिन सिंधिया हिम्मत नहीं जुटा पाये और राजभक्त बने रहे। फिर वे आगरा चले गये। ग्वालियर का पतन जून 1858 में हो गया। 17 जून, 1858 को लड़ते हुए रानी ने वीरगति प्राप्त की। उनकी बहादुरी देखकर सर ह्यू रोज को कहना पड़ा—*'यहां एक महिला है जो विद्रोहियों में एकमात्र मर्द है।'* बाद में तात्यां टोपे को सिंधिया के किसी आदमी ने पकड़वा दिया और उन्हें मार डाला गया।

जगदीशपुर (बिहार) में विद्रोह महाराजा कुंवर सिंह के हाथ में था, जिन्हें उनकी जमींदारी से वंचित कर दिया गया। जब दानापुर के सिपाहियों ने विद्रोह किया और आरा की ओर कूच किया, तब कुंवर सिंह ने उनका नेतृत्व किया। 70 वर्ष से अधिक उम्र के इस बूढ़े ने आरा के निकट अंग्रेजों को परास्त किया। पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्रों में भी कुंवर सिंह ने अंग्रेजों को चुनौती दी और बहादुरी से लड़े।

बरैली में विद्रोह का नेतृत्व खान बहादुर खान कर रहे थे, जो रोहिलखंड के पूर्व शासक के उत्तराधिकारी थे। फैजाबाद में विद्रोह का नेतृत्व मौलवी अहमद-उल-लाह और पटना में मौलवी पीरअली ने किया। वे

तालिका 3.1 *1857 का विद्रोह*

क्र.	विद्रोह के केंद्र	नेतृत्वकर्ता	अंग्रेज अधिकारी	पतन
1.	मेरठ (10 मई)	बंगाल सेना के सिपाही	जनरल हैविट	–
2.	दिल्ली (11 मई)	बख्त खान, बी.एस. जाफर	जान निकोल्सन एवं लेफ्टिनेंट हडसन	20 सितंबर 1857
3.	लखनऊ (4 जून)	बेगम हजरत महल	सर कोलिन कैंपबेल	मार्च, 1858
4.	कानपुर (5 जून)	नाना साहेब, तात्यां टोपे, अली मुल्ला खान	सर कोलिन कैंपबेल	6 दिसंबर, 1857
5.	झांसी एवं ग्वालियर	लक्ष्मी बाई (राव गंगाधर राव की विधवा)	सर ह्यू रोज	3 अप्रैल, 1858 (झांसी)
6.	बरेली (उ.प्र.)	खान बहादुर खान	–	–
7.	जगदीशपुर (आरा, बिहार)	कुंवर सिंह	–	–
8.	फैजाबाद (उ.प्र.)	मौलवी अहमदुल्ला	–	–
9.	पटना	मौलवी पीर अली	–	–

वहाबी आंदोलन के प्रमुख नेता थे। वहाबियों ने पहले ही अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद घोषित कर रखा था। एक बार विद्रोह शुरू हो गया तो वे बढ़-चढ़कर इसमें शामिल हुए।

विफलता के कारण

विद्रोह के अधिकांश स्थल 1858 तक अंग्रेजों के कब्जे में आ गये। इस असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि यह विद्रोह अखिल भारतीय नहीं था, जबकि अंग्रेजी सेना समस्त भारत में थी। दक्षिण भारत इस विद्रोह से अछूता रहा। मद्रास की सेना पूरी तरह अंग्रेज भक्त बनी रही। कंपनी की सेना के आधे सिपाही इस विद्रोह को दबाने में लगे रहे। पंजाब, सिंध, राजपूताना और ईस्ट बंगाल इस विद्रोह से अलग रहे। गोरखाओं ने भी अंग्रेजों की सहायता की।

अधिकांश राजाओं और नवाबों ने अंग्रेजों का ही साथ दिया। वास्तव में केवल वे राज्य ही विद्रोह में शामिल हुए जिनका राज्य छीन लिया गया था और जिनकी पेंशन रोक दी गयी थी। ग्वालियर के सर दिंकर राव और हैदराबाद के नवाब सालार जंग ने विद्रोह को दबाने का हर संभव प्रयास किया। आश्चर्य नहीं कि अंग्रेज अंत तक निजाम के कृतज्ञ रहे।

नेतृत्व की कमजोरी, नेतृत्व में परस्पर सहयोग की कमी और एक समान योजना की कमी इस विद्रोह के विफल रहने का कारण बनी। कुछ नेतृत्व को छोड़कर अधिकांश ने कुछ खास नहीं किया। इस विद्रोह की एक कमजोर कड़ी बहादुरशाह जफर थे, जो अपनी और पत्नी जीनत महल की सुरक्षा के प्रति अधिक चिंतित थे। उन्हें सिपाहियों में कोई आस्था नहीं थी, न ही सिपाही उनका बहुत आदर कर रहे थे। बहादुर शाह को विद्रोह का नेता इसलिए बनाया गया कि भारत में एकता का एकमात्र प्रतीक मुगल सम्राट ही था और दिल्ली ही एक शहर था, जिसकी ओर सबकी नजर थी।

इसके अतिरिक्त विद्रोहियों के पास भविष्य की कोई योजना भी नहीं थी। यह तो अकस्मात हुआ था। इसका नेतृत्व भी पुराने सामंतों के हाथ में था, शिक्षित मध्यम वर्ग के हाथ में नहीं। इन लोगों को अंग्रेज

पहले भी कई बार हरा चुके थे और इन सामंती वर्गों के पास ऐसा नया कुछ नहीं था, जिससे अंग्रेजी शासन को चुनौती दी जा सके।

जमींदार और महाजन अंग्रेज समर्थक बने रहे। उनका अस्तित्व ही अंग्रेजी शासन पर टिका था। उन्होंने संकट की इस घड़ी में अपनी वफादारी दिखायी। व्यापारी वर्ग भी अंग्रेजों के साथ ही खड़ा दिखायी दिया, क्योंकि उनका आर्थिक हित भी अंग्रेज व्यापारियों और विदेश व्यापार से जुड़ा था।

शिक्षित मध्यम वर्ग भी इस विद्रोह में शामिल नहीं हुआ। एक तो उनकी संख्या ही कम थी, दूसरे उन्हें ऐसा लगता था कि अंग्रेजी शासन से भारत की रूढ़िवादिता दूर होगी और आधुनिकता आयेगी। शायद अचानक शुरू हुए इस विद्रोह के परिणाम को लेकर वे बहुत अधिक उत्सुक नहीं थे।

प्रभाव

विद्रोह का सबसे बड़ा परिणाम तो यह हुआ कि 1858 के महारानी के अध्यादेश के साथ कंपनी का शासन समाप्त हुआ और ब्रिटिश ताज का प्रत्यक्ष शासन शुरू हुआ। भारत सचिव का एक नया पद इंग्लैड में बनाया गया, जिसकी सहायता के लिए 15 सदस्यीय इंडिया काउंसिल की स्थापना की गयी। गवर्नर जनरल का पद अब वायसराय कहा जाने लगा, लेकिन यह परिवर्तन औपचारिक अधिक था, क्योंकि भारत में अंग्रेजी ताज का प्रभाव 1773 के रेगूलेटिंग एक्ट और 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट से ही बढ़ गया था।

विद्रोह के बाद देसी रियासतों के प्रति नीति भी बदली। 1858 में महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की कि रियासतों का विलय अब नहीं होगा। निजाम, राजपूत, मराठे और सिख राजाओं की वफादारी का ईनाम मिला, उन्हें सनद और सर्टिफिकेट दिये गये। उनमें से अनेक की पहुंच सीधे रानी तक हो सकी।

विद्रोह का एक बड़ा कारण सेना थी। इसलिए सेना का पुनर्गठन किया गया। यूरोपीय सैनिकों की संख्या 40,000 से बढ़ाकर 65,000 की गयी, जबकि भारतीय सिपाहियों की संख्या 2,38,000 से घटाकर 1,40,000 की गयी। बंगाल की सेना में यूरोपीय-भारतीय सेना का अनुपात 1:2 और मद्रास एवं बम्बई में यह अनुपात 1:3 किया गया। सेना में राष्ट्रवादी भावना न पनप सके, इसलिए जाति और क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया गया। सेना को गोरखा, सिख, जाट, राजपूत, पठान आदि के आधार पर गठित किया गया। तोपखाने एवं अन्य महत्वपूर्ण सैनिक ठिकानों पर भारतीय सेना की नियुक्ति नहीं की गयी।

विद्रोह के दौरान हिंदू-मुस्लिम एकता ने कंपनी की नींव हिला दी थी। विद्रोह के बाद अंग्रेजी सरकार ने इस एकता को तोड़ने का मौका नहीं गंवाया। मुसलमानों को विद्रोह का दोषी करार दिया गया और उनके प्रति तिरस्कार की नीति अपनायी गयी। उन्हें सरकारी सेवाओं और कृपा से दूर रखा गया। वास्तव में इस विद्रोह ने मुसलमानों को जानी, माली और सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया। दिल्ली, लखनऊ और पटना जैसे साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र तबाह हो गये। मुसलमानों एवं उर्दू भाषा को विद्रोह का खामियाजा अधिक भुगतना पड़ा।

लेकिन इस विद्रोह का एक सकारात्मक प्रभाव भी दिखा। इसकी विफलता के बाद शिक्षित मध्यम वर्ग में एक राष्ट्रीय चेतना जागी, जिसमें राष्ट्रवादी भावना विकसित हुई। अनेक राजनैतिक संस्थाएं इस चेतना का प्रतीक हैं, जैसे—1866 का ईस्ट इंडिया एसोसिएशन, 1867 की पूना सार्वजनिक सभा, 1875 की इंडिया लीग, 1876 का इंडियन एसोसिएशन, 1864 की मद्रास महाजन सभा और 1885 का प्रेसिडेंसी एसोसिएशन। अंततः 1885 की अखिल भारतीय कांग्रेस इस उभरती राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक और परिणाम थी।

1858 के पश्चात भारत में ब्रिटिश प्रशासन का पुनर्गठन

भारत में ब्रिटिश प्रशासन दो भागों में विभक्त था—पहला काल 1772 से 1858 तक कंपनी का शासन

1857 के विद्रोह पर अवलोकन

- ब्रिटिश इतिहासकारों, जैसे—लारेंस, होम्स, मैल्सन, कीव, ट्रेवलिन तथा सीले आदि ने इसे 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा दी।
- सीले का कथन है इस विद्रोह में सिपाहियों ने स्वार्थ तथा देश भक्ति के जज्बे के बिना ही विद्रोह किया। उनका कोई खास नेता नहीं था और न उन्हें कोई आम जनसमर्थन प्राप्त था।
- सर सैयद अहमद खान ने अपनी पुस्तक 'असवने वगावते हिन्द' (उर्दू) में पहली बार 1857 के विद्रोह का लेखन किया। उन्होंने कहा राजनीतिक भागीदारी के अभाव में लोगों ने यह विद्रोह किया।
- एल.ई.आर. रीस का यह कथन है कि यह युद्ध पुरातन पंथियों द्वारा ईसाइयों के विरुद्ध विद्रोह था। कैप्टन जे.जी. मडैले का यह कथन है कि यह युद्ध गोरी और काली नस्लों के विरुद्ध एक संघर्ष का परिणाम है।
- टी.आर. होम्स् का कथन है कि यह विद्रोह सभ्यता और बर्बरता के बीच एक जबरदस्त संघर्ष था। सर जेम्स ओर्ट्रम तथा डब्लू. टेलर ने यह कहा कि इस विद्रोह का कारण हिन्दू मुसलिम षड्यंत्र का ही परिणाम था।
- बैजमिन डिजराईली कंजर्वेटिव पार्टी के नेता ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह का नाम दिया था।
- वी.डी. सावरकार ने अपनी पुस्तक इंडियन बार आफ इंडिपेंडस में यह तथ्य दिया कि 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय युद्ध था, जिसे बड़े ही संगठित तरीके से चलाया गया था।
- आर.सी. मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'द सिपाही म्यूटनी एंड रिवोल्ट आफ 1857' में यह तर्क दिया है कि यह विद्रोह विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूप लिए हुए था। ये न तो पहला और न ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता सग्रांम के रूप में जाना जा सकता है।
- एस.एन. सैन ने अपनी पुस्तक 1857 में यह लिखा कि विप्लव वास्तव में प्रथम स्वतंत्रता सग्रांम ही था।
- डा. एस.वी. चौधरी ने अपनी पुस्तक सिविल रिविलियन इन द इंडियन मयूटनीस, 1857 से 1859 में इस पक्ष का समर्थन किया है कि 1857 का विद्रोह सैन्य तथा आम जनों के मिलन का परिणाम था। ये दोनों स्वतंत्रता के लिए एकल संघर्ष कर रहे थे।
- जवाहरलाल नेहरु ने कहा कि यह विद्रोह सामंतवादी व्यवस्था का परिणाम था क्योंकि सांमतों ने अपने साथियों के साथ मिल कर विद्रोह की शुरुआत की और कंपनी के विरुद्ध असंतोष ने इसे हवा दी (डिस्कवरी आफ इंडिया) प्रो. सटेले वोलपर्ट अमेरिकी इतिहासकार कहते हैं कि यह सैनिक विद्रोह में ज्यादा था परंतु प्रथम स्वतंत्रता संग्राम नहीं था।

रहा तथा दूसरा काल 1858 से 1947 जब क्राऊन या राजतंत्र का शासन रहा। हम पहले भाग के बारे में आपको बता चुके हैं अब हम इस भाग में 1858 के बारे में विस्तृत ब्यौरा देंगे।

1853 के चार्टर एक्ट के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में शासन का एक और अवसर दिया गया। परंतु ब्रिटेन में ज्यादातर लोग कंपनी के शासन के विरुद्ध थे। वे चाहते थे कि भारत में तुरन्त ही ताज का शासन स्थापित किया जाए। 1857 के विद्रोह ने कंपनी के शासन को समाप्त करने का अवसर दिया तथा भारत में विद्रोह के लिए इसे जिम्मेदार ठहराया परंतु कंपनी के समर्थकों, जैसे—जान स्टुअर्ट मिल एक अत्यधिक कंपनी समर्थक ने कहा—ब्रिटिश साम्राज्य को कंपनी की सेवाओं के बारे में नहीं भूलना

चाहिए जो उसने भारत और ब्रिटेन को प्रदान की है। कंपनी के एक अधिकारी रोस मंगली का यह मानना था कि एक गैर राजनैतिक तथा स्वतंत्र संस्था भारत और ब्रिटेन के मध्य सरकार देने का प्रत्यन कर सकती है और कंपनी का होना भारत में सु-शासन के लिए होना आवश्यक है।

परंतु ब्रिटिश सरकार कंपनी को भारत में शासन समाप्त करने के लिए बाध्य कर चुकी थी। उस काल के ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पम्मरसन् ने फरवरी, 1858 में हाऊस आफ कामंस को संबोधित करते हुए कहा कि भारत में अब हमारा शासन करने का सिद्धांत मंत्रियों की जवाबदेही पर आधारित होना चाहिए परंतु पार्लियामेंट को भारत में ऐसा शासन स्थापित करना चाहिए जो न तो राजा के द्वारा स्थापित है और न ही पार्लियामेंट के द्वारा, परंतु लोगों के द्वारा चुनी हुई सरकार का ही होना चाहिए जिसके सदस्य भारत के बारे में ज्यादा न जानते हों। उन्होंने उसे भारत में सुशासन या बिल का नाम दिया। इसके साथ-साथ पम्मरसन् ने कंपनी के शासन की कमियों को बताया और कहा कि यह जिम्मेदारी के बिना शासन करने की संस्था है तथा इसमें दो सरकारों का शासन चलता है।

एक लंबी बहस के बाद, बिल फॉर बैटर गवर्नमेंट आफ इंडिया को पारित कर दिया गया और इसे शाही स्वीकृति 2 अगस्त, 1858 को मिली।

गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1858

व्यवस्थाएं

1. **पार्लियामेंट द्वारा ब्रिटिश क्राउन या राजतंत्र का शासन स्थापित:** 1858 के एक्ट के द्वारा भारत में कंपनी का शासन समाप्त कर दिया गया तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट ने ब्रिटिश क्राउन (राजतंत्र) की सत्ता को भारत में सीधे लागू किया गया। गवर्नर जनरल का ओहदा या पद बढ़ाकर उसे वाइसराय का खिताब दिया गया। सेना तथा भूमि अब ब्रिटिश क्राउन के अधीन हो गए।
2. **सेक्रेटरी आफ स्टेटस् तथा इंडियन कांउसिल:** बोर्ड आफ कंट्रोल तथा कोर्ट आफ डायरेक्टर की शाक्तियां अब सेक्रेटरी आफ स्टेटस् या भारत मंत्री को हस्तातंरित कर दी गईं, जिसका सहयोग 15 कांउसिल सदस्य करेंगे। भारत मंत्री को भारत के बारे में कानून पारित करने का अधिकार, सरकार को नियंत्रित करने का अधिकार भी प्रदान किया गया। वह अब संसद में शामिल होकर कार्रवाई में भाग ले सकता था।

   15 सदस्यीय कांउसिल के 8 सदस्य क्राउन द्वारा नामांकित किए जाते थे तथा 7 सदस्यों को कोर्ट आफ डायरेक्टर के द्वारा नामांकित किया जाता था। इस एक्ट ने यह व्यवस्था की कि यह सदस्य कम से कम भारत में दस वर्ष तक रहे हों। क्राउन इन सदस्यों को पार्लियामेंट के प्रस्ताव पर अपने पद से हटा भी सकता था। यह सदस्य भारत के फंड से प्रति वर्ष 1200 पौंड प्राप्त कर सकते थे।
3. **भारत मंत्री की शाक्तियां:** कुछ मामलों में भारत मंत्री स्वयं ही निर्णय लेने का अधिकार रखता था। वह कौंसिल के निर्णय को भी वीटो कर सकता था। उसके पास वोट डालने की शक्ति निहित थी। वह कौंसिल के उन निर्णयों को मानता था जो भारत सरकार से संबंधित मामलों को, जैसे—संपत्तियों की खरीद फरौख्त, कर के मामले, नियुक्तियों के मामले इत्यादि। इसके साथ-साथ वह कौंसिल की जानकारी बिना वायसराय को गुप्त पत्र भेज सकता था। वह भारतीय सिविल सेवा के लिए नए कानून बना सकता था। भारतीयों को भी सिविल सेवा में परीक्षा देने का अधिकार प्राप्त था।
4. **नियुक्तियां:** ब्रिटिश क्राउन को वायसराय तथा गवर्नर जनरल साथ-साथ बम्बई, मद्रास जैसी प्रेजीडेंसी के गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। इसी प्रकार वायसराय को यह अधिकार दिया गया था। वह ब्रिटिश सरकार की सहमति से लेफ्टीनेट गवर्नर की नियुक्ति कर सकता था।

5. **सैक्रेटरी आफ स्टेट पर या भारत मंत्री पर ब्रिटिश पार्लियामेंट का नियंत्रण:** सैक्रेटरी आफ स्टेट को निचले सदन हाउस आफ कामंस में भारत के राजस्व से संबंधित रेलवे, कानून तथा निर्माण के बारे में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी। पार्लियामेंट की अनुमति के बिना भारत के राजस्व को किसी भी बाहरी क्षेत्र में सैनिक कार्यवाही पर खर्च नहीं किया जा सकता था। परंतु आपातकालीन स्थिति में ब्रिटिश पार्लियामेंट इसका अनुमोदन कर सकता था। इसी प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत मंत्री से अनेक मामलों में प्रश्न पूछ सकता था, जिसमें मुख्यतया राजस्व तथा प्रशासन के मामले थे।

लार्ड केनिंग ने 1 नवंबर 1858 को महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणा इलाहाबाद में प्रस्तुत की, इसमें पहली बार वायसराय शब्द का प्रयोग किया गया। इस उद्घोषणा के अनुसार भारत में अब किसी भी राज्य का अधिग्रहण नही होगा, सभी तरह की नियुक्तियों में योग्यता को ही आधार माना जाएगा तथा लोगों का जबरदस्ती धर्म परिवर्तन नहीं होगा। इसी के साथ-साथ भारत के कानून तथा उसके पुराने रीति-रिवाजों का संरक्षण किया गया और यह कहा गया कि भूमि अधिग्रहण के मामले में नियमों का पालन किया जाएगा तथा किसानों को हक देने का वायदा किया गया कि जब तक वह राजस्व अदा करते रहेंगे उन्हें भी संरक्षण दिया जाएगा।

इंडिया कौंसिल एक्ट 1861

व्यवस्थाएं

1. इस एक्ट के द्वारा वायसराय की कौंसिल में पांचवें सदस्य को नियुक्त किया गया जो वित्त तथा कानूनी मामलों का विशेषज्ञ होगा।
2. इस एक्ट के द्वारा भारत सरकार के विभागों में पोर्टफोलियो व्यवस्था को शामिल किया गया तथा यह भी नियम बनाया गया कि किसी सदस्य की अनुपस्थिति में उसका कार्य वायसराय और गवर्नर जनरल अपने विवेक अनुसार कर सकेंगे।
3. वायसराय की कौंसिल को विस्तृत किया गया जिसमें कम से कम छह सदस्य और ज्यादा से ज्यादा 12 सदस्यों का प्रावधान किया गया। गवर्नर जनरल उन्हें दो वर्ष के लिए नियुक्त कर सकता था। आधे सदस्य गैर-सरकारी होंगे। आमतौर पर यह सदस्य भारतीय ब्रिटिश सरकार के भक्त थे।
4. कौंसिल में कानून बनाने की शक्ति थी परंतु यह प्रशासनिक मामलों में दखलंदाजी ही कर सकते थे। राजस्व, धर्म, सैन्य मामले तथा राजकीय कर्जों के मामलों में प्रस्ताव लाने के लिए गवर्नर जनरल की सहमति अवश्यक बनाई गई। परंतु गवर्नर जनरल किसी भी प्रस्ताव को वीटो कर सकता था। यह कौंसिल छह महीने के लिए कोई भी कानून बना सकती थी परन्तु गवर्नर जनरल चाहे तो वह इस कानून को छह महीने पहले ही समाप्त कर सकते थे।
5. इस एक्ट के द्वारा गवर्नर जनरल किसी नये प्रांत को बना सकता था और लैफ्टिनेट गवर्नर को नियुक्त कर सकता था तथा उसे किसी प्रेजिडेंसी की सीमा को बदलने का अधिकार भी दिया गया।
6. इस एक्ट ने एक बार फिर मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों को कानून बनाने की विधिता प्रदान की तथा वे एक एडवोकेट जनरल की नियुक्ति कर सकते थे तथा कम से कम चार सदस्यों तथा ज्यादा से ज्यादा आठ सदस्यों को कौंसिल ने नियुक्त करने का अधिकार दिया।
7. हालांकि केंद्र सूची और राज्य सूची में कोई भेद नहीं किया गया परंतु फिर भी महत्वपूर्ण कार्य, जैसे—राजस्व, मुद्रा, दूरसंचार, धर्म और कापीराइट मामलों को केंद्रीय सरकार के अधीन रखा गया।

इंडियन कौंसिल एक्ट, 1861 की कमियां

1. भारतीय सदस्यों का नामांकन था परंतु उनके पास किसी भी प्रकार की शक्तियां नहीं थीं। वह केवल कानून बनाने के समय दर्शक का ही कार्य करते थे।
2. यह एक प्रतिनिधिमूलक संस्था—लेजिस्लेटिव असेम्बली की मान्य थी। परंतु इसमें केवल रजवाड़े, जमींदार तथा ब्रिटिश सरकार के स्वामिभक्त प्रतिनिधि ही शामिल थे। आम लोगों का इसमें कोई भी सदस्य या प्रतिनिधि शामिल नहीं था।
3. वाइसराय को वीटो का अधिकार दिया गया था। कोई भी कानून बिना वायसराय की अनुमति के पारित नहीं किया जाता था। यह संस्था के ऊपर एक व्यक्ति की सत्ता का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

इंडियन कौंसिल एक्ट, 1892

1861 के कौंसिल एक्ट में अनेक कमियों के बारे में हम ऊपर पढ़ चुके हैं। 19वीं शताब्दी में शहरी मध्यम वर्ग में राष्ट्रवादी चेतना का विकास धीरे-धीरे हो रहा था। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद अनेक मांगें की जाने लगीं, जिसमें प्रमुख थीं—लेजिस्लेटिव कौंसिल का विस्तार तथा उसका भारतीयकरण। कांग्रेस के नेता निरंतर यह मांग करते थे कि कौंसिल में बजट से संबंधित प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। लार्ड डफरिन के गर्वनर-जनरल काल (1884-88) में मध्यम वर्गीय और पश्चिमी सभ्यता में पढ़े-लिखे भारतीयों को अधिक महत्व दिया गया क्योंकि लार्ड डफरिन को राजा-महाराजा तथा पुरातन-पंथी पसंद नहीं थे। उसने सर जॉन चेनी की अध्यक्षता में समिति की स्थापना की जिसने यह सुझाव दिया कि लेजिस्लेटिव कौंसिल को छोटी पार्लियामेंट का रूप दे दिया जाए। कांग्रेस पार्टी हर सम्मेलन में लेजिस्लेटिव कौंसिल में परिवर्तन की मांग करती रहती थी। इसी प्रकार अनेकों पत्र, समाचार-पत्रिकाएं यही मांग उठाते रहते थे। चेनी समिति के सुझावों पर लार्ड डफरिन ने ब्रिटिश सरकार को कुछ सुधार करने के लिए प्रेरित किया। इसी के आधार पर इंडियन कौंसिल एक्ट 1892 को पारित किया गया।

इंडियन कौंसिल एक्ट 1892 की व्यवस्थाएं

1. सैंट्रल लेजिस्लेटिव कौंसिल को विस्तारित किया गया। इसमें समस्याओं की संख्या कम-से-कम दस अधिक-से-अधिक सोलह की गई। मद्रास तथा बाम्बे के लिए यह मुख्य दस तथा सोलह रखी गई। बंगाल के लिए यह बीस सदस्य रखी गई तथा यू.पी. के लिए यह अधिकतम पंद्रह थी। (यू.पी. का दूसरा नाम तब उत्तर पश्चिम प्रांत था)
2. इस कौंसिल में तीन प्रकार के सदस्यों का प्रावधान किया गया :
   - अ. सरकारी सदस्य
   - ब. गैर-सरकारी सदस्य जिन्हें नामित किया गया
   - स. वह गैर-सरकारी सदस्य जो मद्रास, बाम्बे, बंगाल तथा उ.प्र. की प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा नामित किए गए तथा उसमें एक सदस्य चैंबर आफ कामर्स के लिए नामांकित किया जाता था।

   प्रांतीय असेबलियों, म्युनिस्पलिटियों, जिला बोर्डों, विश्वविद्यालयों तथा चैंबर आफ कामर्स को अपरोक्ष रूप से चुनने का अधिकार प्रधान किया गया। यह इंडियन कौंसिल एक्ट 1892 में पहली बार शुरू किया गया।
3. लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों को बजट पर या लोगों से संबंधित प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने के लिए कार्यकारणी में छह दिन पहले नोटिस देने का प्रावधान किया गया। कार्य करने के जवाब पर बहस करने का अधिकार नहीं था। स्पीकर अगर चाहे तो वह सदस्य की प्रार्थना को अस्वीकार कर सकते हैं।

4. वायसराय को सदस्यों को नामांकित करने का अधिकार दिया गया परंतु किसी कानून को लेकर उन्हें भारत मंत्री या सैक्रेटरी आफ स्टेट से परामर्श लेने का सुझाव दिया गया।

इंडियन कौंसिल एक्ट 1892 में 1861 के एक्ट में अधिक शक्तियां दीं परंतु मध्यमवर्गीय भारतीयों को यह अच्छा नहीं लगा क्योंकि कार्यकारिणी लेजिस्लेटिव कौंसिल के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। इसके सदस्यों को बजट पर वोट करने का अधिकार नहीं दिया गया था। वे मात्र प्रश्न ही पूछते थे तथा न ही वे कार्यकारिणी के जवाब पर कोई कार्यवाही कर सकते थे। भारतीयों को संवैधानिक सुधारों की स्वतंत्रता के लिए अगले 17 वर्षों का इन्तजार करना पड़ा।